GLOBAL JOURNAL OF MULTIDISCIPLINARY STUDIES ISSN:- 2348-0459
www.gjms.co.in
Volume-1, Issue-1 Dec 2013

काव्यलक्षण

कुमारी शिखा झारिया
शोध छात्रा
संस्कृत पालि प्राकृत विभाग
रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय जबलपुर

सारांश

काव्यलक्षण के संदर्भ में आचार्य भामह से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक सभी आचार्यों ने अपने ढंग से काव्य का लक्षण किया है। परंतु इस लंबे अंतराल में भी वह एकांगी ही रहा। आचार्य भामह ने 'शब्दार्थो सहितौ काव्यम्' कहा है भामह द्वारा प्रस्तुत यही लक्षण उत्तरोत्तर संशोधित एंव परिवर्धित होता हुआ, मम्मट के द्वारा पूर्णता को प्राप्त होता है। काव्य की इन परिभाषाओं में आचार्यो की दृष्टियां भिन्न हैं। भामह, वामन, रूद्रट, कुन्तक, आनन्दवर्धन, मम्मट, हेमचन्द्र, वाग्भटादि, विद्यानाथ, तथा भोजदेव जहां 'शब्दार्थ-समष्टि' के काव्यत्व पर जोर देते हैं वहीं दण्डी ''शरीरं तावदिष्टार्थव्यवछिन्ना पदावली'' तथा पण्डितराज शब्दमात्र के काव्य होने पर जोर देते है। तीसरा मार्ग है आचार्य विश्वनाथ का। वह शब्द अथवा अर्थ के प्रति स्वारस्य न प्रकट करते हुए रसात्मक वाक्य को ही काव्य मानते हैं।

अर्वाचीन आचार्यों में अभिराजराजेन्द्र मिश्रजी का काव्यलक्षण पूर्ववर्ती आचार्यों के लक्षणों से अनुदत्त है। आचार्य द्विवेदी भी इसका समर्थन करते हैं। राधाल्लभत्रिपाठी ने काव्य का लक्षण 'लोकानुकीर्तनं काव्यम्' के रूप में किया है, जो दार्शनिक पृष्ठभूमि पर आधारित है। यह लोक स्थाणु या स्थिर नहीं है, अपितु प्रतिक्षण,परिवर्तमान और विकासशील है।

प्रास्तावना

काव्य कला का वह सर्वोत्कृष्ट रूप है, जो जीवन को सौन्दर्यात्मक एवं गत्यात्मक बनाता है। यह (काव्य) वह औषधि है जो बड़े बड़े रोगों को सहजतः दूर करने में समर्थ है वह अस्त्र है, जिसके सामने बड़े बड़े योद्धाओं को भी घुटने टेकने पड़ जाते हैं तथा यह वह वशीकरण है जिससे पशु पक्षियों अथवा मनुष्यों को ही नही अपितु देवताओं को भी अपने अनुकूल बनाया जा सकता है, प्रसंग प्राप्त कुछ प्रमुख काव्यलक्षण निम्नलिखित है-

''अग्निपुराणकार महर्षि व्यास के अनुसार-

संक्षेवाद्वाक्यमिष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली।

काव्यं स्फुद्लंकारं गुणवद दोष वर्जितम्।।"1

अर्थात संक्षिप्त इस्ट, अर्थयुक्त, स्फुट अलंकारयुक्त गुणयुक्त तथा दोषरहित पदावली को काव्य कहते है काव्यशास्त्र के प्रारम्भिक काल से आचार्यो ने काव्य को परिभाषित किया है कवि सहृदय (पाठक) एवं आचार्य सबके मन में काव्य की कोई न कोई अवधारणा तो विद्यमान ही रहती है। वस्तुतः काव्य लक्षण दो प्रकार का होता है तटस्थ एवं स्वरूप लक्षण। किसी वस्तु को उसके वाह्य संबंधों द्वारा परिभाषित करना ही तटस्थ लक्षण कहा जाता है।

तस्य कर्म स्मृतं काव्यमं2अर्थात कवि के कर्म को ही काव्य कहते हैं काव्य साक्षात रूप से कवि का कर्म है किसी और का नही इसलिए कवि में ही काव्य पर्यवसित है परंतु स्वरूप लक्षण वस्तु के अर्न्तविश्लेषण पर आधारित है। काव्य का विश्लेषण करने पर हमें दो संघटन तत्व मिलते है - शब्द और अर्थ।

आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी का ''अभिनवकाव्यालटारसूत्रम'' काव्य शास्त्रीय कृति है जो भारतीय काव्यशास्त्र में विकास एवं विच्छित के नये द्वार खोलती है। आचार्य त्रिपाठी नवीन युग के प्रखर चिन्तक, कवि समीक्षक और आचार्य है। उन्होंने लोक के अनुकीर्तन को ही काव्य माना है।

''लोकानुकीर्तनं काव्यम्''3

आशय है लोक का अनुकीर्तन ही काव्य है। प्राचीन आचार्य परम्परा में क्रमशः विकासोन्मुख प्रकृति के साथ लक्षण प्रस्तुत किया है। प्राचीन आचार्यो के जो काव्य लक्षण थे वह शब्द उससे निकलने वाले अर्थ उसके सम्मिलित स्वरूप से निकलने वाला भावार्थ एवं भावार्थ से ध्वनित होने वाले रस को काव्य माना है परंतु राधावल्लभ जी की दृष्टि काव्यलक्षण के प्रति व्यापक आयाम को लेते हुए अग्रसर हुई। लोकशब्द 'लोकृ' धातु 'घञ' प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है बनता है। जिसका निर्वचन है - लोकयति भासते, लोकते पश्यति वा। जो भासित होता है या प्रकाशित होता है तथा जो देखता है वह सब लोक है। लोक शब्द का यही अर्थ यहाँ श्रेष्ठ या स्वीकृति योग्य है। इस प्रकार अभिनवगुप्त ने अभिनव भारती में लोकधर्मी का निरूपण करते हुए जो लोको नामा जनपद वासी जनः। जनपद देश एवं कह कर लोक जनपदवासी जन का वाचक माना है तथा काव्यहेतु का निरूपण करते हुए मम्मट ने लोक को स्थावर जग्ड़मात्मक माना है, ये दोनो अर्थ यहाँ अग्राह्य है। लोक शब्द के कथन से केवल जन ही नही अपितु समस्त चराचर जगत का ग्रहण होता है। लोक केवल स्थावर जंगमात्मक ही नहीं, अपितु चेतना से विभाव्यमान समग्र भुवन ही लोक है। यह लोक स्थाणु

या स्थिर नहीं अपितु प्रतिक्षण परिवर्तमान और विकासशील है।

भामह से लगाकर आज तक के समस्त काव्यशास्त्रियों ने काव्य लक्षण प्रस्तुत करने का प्रत्युत किया है त्रिपाठी के लक्षण में मात्र इतनी नवीनता है कि उन्होंने काव्यवस्तु (लोक) का उल्लेख करते हुए उसके अनुकीर्तन को काव्य की कोटि में रखा है। वस्तुतः लोक पद का सन्निवेश आचार्य ने लोक विषय अपनी अवधारणा तथा काव्य के आनन्त्य को परिभाषित करने के लिए किया है उनका लोकविषय अवधारणा अतिगम्भीर और व्यापक है। लक्षण में प्रयुक्त लोक पद उसी अवधारणा का परिज्ञान कराता है। लक्षण से अनुकीर्तन पद हटाकर केवल लोककाव्यम जैसे लक्षण की परिकल्पना की ही नही जा सकती। ऐसे में तो समस्त चराचर जगत काव्य की कोटि में आने लगेगा।

लोक शब्द की विस्तृत व्याख्या करते हुए आपने कहा है कि **लोकोऽयं भारतं वर्षम** [4]को लोक गया है। भारतवर्ष के अर्थ में लोक शब्द का प्रयोग किया गया है अतः भारतवर्ष के बाहर लोक का वर्णन अतिव्याप्ति नहीं मानना चाहिए। ''कविना यद् दिव्येन अर्षिण चक्षुषा चर्मचक्षुषा वा साक्षात्क्रियते तदपि लोकः। कवि अपने दिव्य आर्षचक्षुओं से अथवा चर्मचक्षुओं से जो कुछ भी देखता है वह भी लोक है। यहाँ चर्मचक्षुओं से साक्षात्कृत लोक को कवि के अनुदिन होने वाले अनुभव के रूप में माना जा सकता है। जिसे वह रोज देखता है महसूस करता और भोगता है। किन्तु दिव्य और आर्ष चक्षुओं से द्रष्ट पदार्थ लोक दायरे में लाकर आचार्य ने समस्त तत्वों को भी काव्य वस्तु की कोटि में ला दिया है कवि जिनका काव्य रचना प्रक्रिया के क्षण में अपने प्रातिभ चक्षुओं से साक्षात्कार करता है, तन्मयीभाव स्थापित करता है काव्य के रूप में उस वस्तु को अभिव्यक्ति देता है।

''स च लोकस्त्रिविधः। अतिभौतिक अधिदैविक आध्यात्मिकश्च। अनुषक्तत्वं चेतेषां त्रयाणामषि।''[5]

लोक को व्यापक दृष्टि देते हुए तीन प्रकार बताए हैं अर्थात वह लोक तीन प्रकार का है। अधिभौतिक, अधिदैविक, आध्यात्मिक ये तीनों परस्पर अनुषक्त है।

अधिभौतिक लोक – अन्तरिन्द्रियों और बाह्य इन्द्रियों से अनुभूयमान यह पंचभूतात्मक जगत् ही अधिभौतिक है। भूतों से उत्पन्न होने वाला अधिभूत कहलाता है। पृथ्वी अंतरिक्ष, द्युलोक, दिशाएँ, अवान्तर दिशाएँ अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, जल, औषधियों वनस्पतियाँ, आकाश और आत्मा सब अधिभूत कहे गये हैं। इस अधिभूत में उत्पन्न होने वाली अधिभौतिक लोक है। यही अधिभौतिक लोक काव्य कला का आधार है इसके नष्ट होने पर सब नष्ट हो जाते हैं –

''कर्म शिल्पानि शास्त्राणि विचक्षण बलानि च।

सर्वाण्येतानि नश्यन्ति यदा लोकः प्रणश्यति।।"[6]

अधिदैविक लोक – अधिदैविक लोक मानस साक्षात्कार से जनित होता है क्योंकि नाट्यशास्त्रकार ने देवताओं की मानसी सृष्टि का उल्लेख किया है। देवता मनः संकल्प प्राणरूप होते हैं। कहने से आशय जो वस्तु जैसी दिखती है वैसी होती नहीं। इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से जन्य ज्ञान यद्यपि मन में ही उत्पन्न होता है तथापि इसमें ज्ञानेन्द्रिय के व्यापार की प्रधानता होती है। मन से ज्ञानेन्द्रिय को प्रेरित करता हुआ व्यक्ति उस संकल्प से वस्तु के जिस नवीन रूप का अवलोकन करता है या उसकी रचना करता है, वहाँ अधिदैविक लोक होता है।

आध्यात्मिक लोक – वस्तु का प्रतीयमान स्वरूप उसकी आत्मा है उस आत्मा में जो होता है वह आध्यात्म है अतः वस्तु का आध्यात्मिक रूप ही आध्यात्म है अतः वस्तु का आध्यात्मिक रूप ही अध्यात्म है अथवा यह क्रिया विशेषण है। आत्मा में, आत्मा के लिये, आत्मा से, आत्मा के द्वारा होने वाला तत्व अध्यात्म है जिसका अर्थ है आत्मा से संबंधित। इस प्रकार लोक की यह विविधता सूक्ष्म से सूक्ष्म और स्थूल तत्वो में समेटे हुए हैं।

आव्रहास्त सबावधि लोकः प्रसतः सनातनोऽक्षच्यः।
लोकाद् बहिन किञ्चिलोके सर्व प्रतिष्ठितं च।। [7]

त्रिपाठी जी श्रुति में वर्णित अचक्षुर वाड़मन सगोचर परमसत्ता तथा ब्रह्मा को भी लोक की कोटि में ले जाते है। यह ठीक भी है क्योंकि प्रतिभाशाली कवि के लिए कुछ भी अविषय नहीं होता। वह समस्त वस्तु जाति का प्रतिभासाक्षात्कार कर उसे काव्यवस्तु के रूप में करता है। यदि कहे कि काव्य तो लोकोत्तर होता है। लोक को काव्य मान लेने पर उसकी लोकोत्तरता कैसे संभव हो सकेगी इसके उत्तर आचार्य त्रिपाठी जी करते हैं –

आचार्य ने लोक के संबंध पूर्व परम्परा में काव्य का महत्व स्वीकार करने के लिए उसकी लोकोत्तरता का निरूपण किया है अथवा लोक शब्द का संकुचित अर्थ में प्रयोग किया है – लोकानुकीर्तनं काव्यम् इस काव्यलक्षण में लोक का उल्लेख किया है। वे केवल अधिभौतिक लोक को नहीं मानते वे तो त्रिलोकी को समाविष्ट करते है। ऐसा नहीं है कि अधिभौतिक, अधिदैविक और आध्यात्मिक लोक पृथक पृथक काव्य का विषय बनते है। वास्तव में ये एक दूसरे से जुड़े हुए है इसलिए काव्य में भी पुरूषार्थसिद्धि होती है। इन तीनों का समग्र समुल्लास ही जीवन है (त्रयाणां च सकलः समुल्लासो जीवनम्)[6] यहाँ जीवन शब्द का प्रयोग करके लोकविषयक अवधारणा और उन लोकों की परस्पर अनुषक्ता को और भी स्पष्ट कर दिया है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष से समन्वित जीवन ही अखण्डता और

पूर्णता को प्राप्त करता है। यहाँ आधिभौतिक लोक से अर्थ, अधिदैविक लोक से काम और आध्यात्मिक लोक से मोक्ष की सिद्धि होती है। चारों पुरूषार्थ में जो धर्म पूर्वक अर्थ और काम में वही अर्थ और काम माने जाते हैं। अर्थ और काम के बिना धर्म संभव नहीं। जिस प्रकार ये चारों अनुषक्त है उसी प्रकार साहित्य में तीनो लोक अनुषक्त है।

त्रिपाठी जी ने अनुकीर्तन की चार अवस्थाएँ बताई है - अनुन्मीलन अनुदर्शन, अनुभव और अनुव्याहरण।

1. **अनून्मीलन** (अनु+उन्मीलनः) अनु अर्थात पश्चात उन्मीलन अर्थात् आँखों का खोलना, प्रकाशित करना, फूंक मारना। कवि के मानस में (काव्य वस्तु या लोक) का प्रथम उन्मष अनुन्मीलन है।

2. **अनुदर्शन** - अनुदर्शन शब्द की उत्पत्ति अनु उपसर्ग दृश धातु ल्युट् प्रत्यय से बनता है जिसका अर्थ है निरीक्षण करना। उस उन्मिषित काव्यवस्तु का कवि के द्वारा अन्तः करण करना ही अनुदर्शन है।

3. **अनुभव** - अनुभव शब्द 'अनु' उपसर्ग 'भू' धातु 'अव' प्रत्यय से बना है अनुभव अर्थात साक्षात् प्रत्यक्ष ज्ञान। अनुदृष्ट उस काव्यवस्तु के वर्णन के लिए वस्तु के स्वरूप या शब्द और अर्थ का आविष्कार अनुभव है।

4. **अनुव्याहरण** - अर्थात पुनरिक्त, बारंबार कथन। उस अनुभूत काव्यवस्तु का श्रवण या पठन योग्य स्फुट शब्दो से कथन करना ही अनुव्याहरण है। जैसे - बाल्मीकी आदि कवि ने कहा है पुनः अनुव्याहरण से शोकश्लोक रूप में अभिव्यक्त हुआ। अनुकीर्तन को प्रभावशाली दिखाते हुए अपने पूर्व आचार्यो का मत देते हुए राधावल्लभजी ने कहा कि इसी अनुकृति को ऐतरेय महीदास ने अनुकृति कहा है। श्रुति ग्रन्थो को रूप में प्रस्तुत करते है ऐतरेय ब्राह्माण का उदाहरण देते हुए त्रिपाठी जी कहते हैं कि ऐतरेय महीदास ने भी अनुकीर्तन को ही अनुकृति माना है। उनके मत में भी सभी शिल्प अनुकृति रूप है। देवशिल्प और मानुषशिल्प भेद से वह शिल्प पुनः दो प्रकार का है। यदि सम्पूर्ण संसार देव या ईश्वर का शिल्प है। इन समस्त शिल्पों में अनुकृति ही मूलतत्व है, ऐसा ऐतरेय ब्राह्मण में महर्षि महीदास ने कहा है।

'लोकानुकीर्तनं काव्यम्' यह काव्य का लक्षण कहा गया है। लोक में शिव और शिवेतर (अमंगल) की शुभ और अशुभ की युगपत् उपस्थिति होती है। काव्य में शिव और शुभ को ही पुरस्कृत करता है। वहाँ अशिव और अशुभ का वर्णन नहीं होता लोक का शिवरूप सहज और अकृत्रिम होता है किन्तु अशिव कृत्रिम, असहज और अस्वाभविक होता है। कवि अशिव का निरूपण उस अशिव के व्याघात के लिए ही करता है।

जब तक अशिव और पाप को नही जाना जायेगा तब तक उसका निराश कैसे सम्भव होगा।[8]

अतः लोक के शिव, सत्य, सहज और आकृत्रिम सभी रूपो का वर्णन करना काव्य की प्रतिज्ञा है। यह लोक का स्वाभाव है। लोक के स्वाभाव का चित्रण ही काव्य का स्वाभाव है। यह चित्रण काव्य में स्वाभावोक्ति या जाति नामक अलंकारो को उत्पन्न करता है। उस सब का जाति नामक अलंकार के विचार के प्रसंग पुनः प्रतिपादन करेंगे।

त्रिपाठीजी के लक्षण में इतनी नवीनता है कि उन्होंनें काव्यवस्तु (लोक) का उल्लेख करते हुए उसके अनुकीर्तन को काव्य की कोटि में रखा है। वस्तुतः लोक पद का सन्निवेश आचार्य ने लोकविषयक अपनी अवधारणा तथा काव्य के आनन्त्य को परिभाषित करने के लिए किया है। उनकी लोक विषयक अवधारणा अतिगम्भीर और व्यापक है। लक्षण में प्रयुक्त लोक पद उसी अवधारणा का परिज्ञान कराता है,लक्षण से अनुकीर्तन पद हटाकर केवल लोक काव्यम् जैसे लक्षण की परिकल्पना की ही नही जा सकती। ऐसे में समस्त चराचर जगत काव्य की कोटि में आने लगेगा।

संदर्भ सूची

1. अग्निपुराण 337/6 उद्धृत आधुनिक संस्कृत काव्यशास्त्र पृ. 101
2. संस्कृत अर्वाचीन समीक्षात्मक काव्यशास्त्र पृ. 200
3. अभिनवकाव्यालंकार सूत्रम् पृ. 1 (1/1/1)
4. अमरकोश (2/1/6) उद्धृत अभिनवकाव्यालंकार सूत्रम् पृ. 1
5. अभिनवकाव्यालंकार सूत्रम् पृ. 1/1/2, 1/1/4
6. नाट्यशास्त्र (29/127) उद्धृत अभिनवकाव्यालंकार सूत्रम् पृ. 2
7. अभिनवकाव्यालंकार सूत्रम् पृ. 3